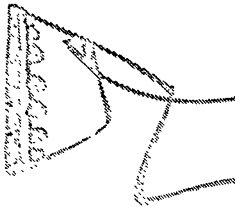


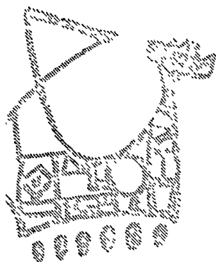
आत्म-निर्वासिन





राजकमल प्रकाशन

राजीव सक्सेना



आत्म-निर्वासन
तथा अन्य कविताएँ

प्रथम संस्करण : १६६६
मूल्य : ३.५० रुपये
प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०, दिल्ली
मुद्रक : नवीन प्रेस, दिल्ली

वापसी

वर्षों के स्वेच्छित निर्वासन के बाद फिर साहित्य जगत में लौट रहा हूँ। यूं बिल्कुल निस्संग कभी नहीं था। कभी-कभी लिखता रहा हूँ और साहित्य सम्पादन मे योग भी देता रहा हूँ। किन्तु तब शायद वह मेरे लिए गौण कार्य था। जब पीछे मुड़कर देखता हूँ तो लगता है, उस समय के राजनीतिक कार्य ने और उसकी सफलताओं से अधिक उसकी विफलताओं ने मुझे एक व्यापक दृष्टि, वस्तुओं और संघटनाओं के सतही, दिखाई देने वाले रूप के पीछे उनके सार-तत्त्व (एसेंस) को समझने की प्रेरणा और नयी-से-नयी प्रवृत्तियों से आत्मीयता स्थापित करने की उत्कट आकांक्षा से संपृक्त किया है और विरोध से अविचलित रहने की किंचित क्षमता भी दी। इसके लिए मै उस क्षेत्र के अनेक साथियों का सदा आभारी रहूँगा।

साहित्य जगत में अब मैं अपने को उन रचनाकारों के बीच पा रहा हूँ जो 'नये' के नाम से सम्बोधित किये जाते हैं और जो मेरी राय में, इस समय साहित्य जगत् में युगान्तर उपस्थित कर रहे हैं। इस समय जो कुछ भी महत्त्वपूर्ण रचना हो रही है, उसका श्रेय उन्हीं को है। उन्होंने मुझे जो आत्मीयता दी है, उस पर मुझे आनन्द और गर्व है।

इस कविता संग्रह मे मुख्यतः सन् '६१ के बाद की कविताएँ हैं—अपवाद हैं तीन कविताएँ 'लज़ारस', 'पुरुष-प्रिया का गीत' और 'मुक्ति-गीत' जिन्हें मैं सन् '६० के बाद बोध का पूरक मानता हूँ। उनके बिना शायद '६१ के बाद के मेरे कृतित्व की भूमिका स्पष्ट न होती।

इस संग्रह में अपेक्षाकृत लम्बी कविताएँ हैं और प्रकाशन की सीमाओं के कारण जितना स्थान उपलब्ध था, उसमें कई अन्य कविताएँ प्रकाशन से रह गई हैं। फिर कभी सही। इन लम्बी कविताओं के चयन में यह ध्यान भी रखा है कि शिल्प, गठन और कथ्य की दृष्टि से वे एक दूसरे से भिन्न हों। इस बीच जो छोटी कविताएँ लिखी हैं, उनका संग्रह भी यथाशक्ति शीघ्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जायगा।

कविताओं की "भूमिका" लिखने का कोई इरादा नहीं था। कुछ मित्रों का आग्रह है कि मैं कुछ अवश्य कहूं। उनके आग्रह की पूर्ति के लिए मैं 'परिशिष्ट' के रूप में दो टिप्पणियां दे रहा हूं। 'वक्तव्य' को लिखाने का श्रेय है 'मराल' के सम्पादक श्री कंचनकुमार को, और 'आधुनिकता : जन्म की प्रतीक्षा' अलवर की पत्रिका 'कविता' के सम्पादक श्री भागीरथ भार्गव के आग्रह पर अपनी तुच्छ सम्मति प्रकट करने के लिए लिखी गई थी। इनको यहां देकर "भूमिका" का कार्य सम्पन्न समझ रहा हूं।

२-ई/२४ लाजपत नगर,
नई दिल्ली-१४

—राजीव सक्सेना

अनुक्रम

परिशिष्ट

आत्मनिर्वासन

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति ।
विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी ॥
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ।
ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥

—मुण्डकोपनिषद, ३।१।४

आत्मनिर्वासन

एक और दिन फेंक गया है
कोई मेरे सामने
मुझे दीन-हीन भिखारी समझकर
खोटे सिक्के को सार्थकता दूं भी
तो कैसे दूं

यहां अस्पताल है
नो हार्न प्लीज
बाहर लोग चल रहे हैं खामोश
उस वायरस से भयभीत
जो अखबार की खबर की तरह
फैल जाता है अनायास
शहर भर में
लोग भीड़ क्यों है
जुलूस क्यों नहीं बन जाते

मैं रोग शैया से उछल कर
बाहर पहुंचने को कसमसाता हूं
कायर कण्ठ में घुमड़ने वाले
क्रान्तिकारी नारे की तरह

अच्छा मेरे रोग से चिन्तित हैं
सारे अधिकारी
नगर मे है सफाई का अभियान
लोगों के जमा होने पर है पाबन्दी
सिर्फ पूजा और कीर्तन खुले हैं



अखबार रोज़ छापते हैं
रोग से बचने की हिदायतें
कहीं अश्रुगैस-लाठी से
वे ला रहे हैं
लोगों को होश में

वे मेरे पास आये है
कहते हैं : मैं मरकर स्वर्ग नहीं
जाता हूं क्यों कर
देशभक्ति की खातिर

उनके देशभक्ति की बातें बघारते ही
मुझको लगता है
वे अभी छुरा भोंक देगे
मेरे पलक मारते ही

मेरी मा पड़ी है मरणासन्न
यहीं किसी वार्ड में
वे किसी थैलीशाह की खूब खेली-खायी
खूसट रखेल ले आते हैं
कहते हैं : ले पूज, यह तेरी माता है

वे हर जेल को कहते हैं अस्पताल
और हर अस्पताल को घर

और हर घर पर वे स्वयं बैठे हैं
काले मणिधर

और अपने ही घर में
मेरा अपना निर्वासन

• •

मनहूस सूरज आंखें मींचकर
बदबूदार कै कर देता है
मेरी हथेली पर
एक नगर गंधाने लग जाता है
छितरा-सा बिखर कर

मैं शायद बीमार हूं
अकेला हूं
डॉक्टर खुद अपना इलाज कर रहे हैं
झगड़ रहे हैं अपने डायगनोसिस पर
मुझे जिन्दा ही मुर्दाघर में छोड़कर

मरे हुए लोगों के बीच
मैं सोचता हूं
इनमें से कितने लोग जीवित हैं
क्या वे जाग सकते हैं
मेरी आवाज की ठोकर खाकर

परिवेश है एक अस्पताल
पाक साफ़
माफ हैं सौ खून
नर्सें सदा मुस्कराती ही रहती हैं
और मरीज सदा चीखता है
स्वस्थ देह के लिए गेह के लिए

मैं जानता हूं
मौत सबको खा लेती है एक दिन
मैं उससे छीनता हूं एक-एक मीठा क्षण
चूसता हू चिंविंग गम
क्या एक और गम
तुम मुझे दे सकते हो

फूलों का गुलदस्ता
और फलों का रस लेकर
प्यार के आंसू बहानेवाले
ओ आध्यात्मिक
मेरी आँखों के सामने से हट जाओ

मैं एक एक्स-रे दे सकता हूं
पारदर्शी शब्द
जिससे देह दर्शन नंगा हो सकता है
शल्याघात की क्षमता वालो यहाँ आओ

वे जिनके हाथ नही कांपते
इस्पाती औज़ारों को पकड़कर
वे जो समझते हैं इन यन्त्रों को
अपनी इच्छाओं का दास मात्र
मैं केवल उनकी परीक्षा हूं
प्रतीक्षा हूं

मैं जानता हूं शल्याघात के क्षणों में
मेरा भविष्य है और नही भी है
मैं अधीर हूं अंतिम निर्णय के लिए



जब शामें गर्म होती हैं और सुबहें ठण्डी,
जब दिन तपता है और रक्त जमा देती है रात,
जब एक मौसम से होने लगता है अकस्मात संक्रमण
किसी अन्य मौसम में, तब कोई वायरस अभिजात
घात में आ बैठता है हर गली मोड़ पर ।
मेरी बीमारी है, हाँ, मेरी अपनी ही दुर्बलता
प्रतिरोध शक्ति क्षीणता ।

गिद्ध लाशें ही नोचते हैं ।

जब ज्वर रेंगने लगता है कीड़ों की तरह जिस्म पर,
तब संत्रास की किस्म से मैं समझ जाता हूं :
कौन-सा है वह मौसम जो अब आ रहा है ।

[सुना है कि मौसमों की पुरानी पहचान
आदिम क़बीलों में पनाह पा रही है
पेड़-पौधों-फूल-पत्तों के आंगन में
नंगी बैठी हुई]

मेरे मित्र, नग्नता पर कविताएँ लिख सकते हो,
भोग नहीं सकते, सब स्त्रीलिंगों-पुल्लिगों के
द्वारों पर भारत सुरक्षा का ताला जड़ दिया गया है,
माहवारी खाते ये सारे दिवालिया हैं तुम्हारे
मैं मानसिक मैथुन में विश्वास नहीं करता ।
शायद इसीलिए मेरा पौरुष रहता है उत्तेजित ।

तुमने एण्टीबायोटिकों के नाम रट रखे हैं काफ़ी
लेकिन मित्र, इन सबसे इम्यूनिटी जो पा चुका है उसका
क्या होगा उपचार ? जाओ, और नयी शोध करो।
मुझे अगर चाहोगे गिनी पिग बनाना,
प्रस्तुत हूं : सार्थक तो हो मेरी निरर्थकता।

निरर्थकता में जी रहे हैं कुत्ते दुम हिलाते, गुर्राते
अपने स्वामियों के चरणों पर, और राहगीर को
वफ़ादारी से डराते-धमकाते, गुर्राते और भौंकते;
मैं चौंका हुआ, शायद दिग्भ्रमित, एक राहगीर हूं।
मैं अपने अन्दर देखता हूं एक नक्शा, और मैं
खोज रहा हूं गन्तव्य, सड़कों की दुर्गम वर्ग पहेली में।

मुझे जो राह रुचती है, उसको रोके क्यों खड़े हैं
सोने के चिकने पर्वत; खेद कि मैं रोमांटिक नहीं हूं।

मेरा माथा गर्म है और शरीर कांपता है ज्वर से,
मैं एक निर्मम बम के पाजिटिव-निगेटिव तारों के
छोर लिये ठहरा हूं बढ़ते हुए समय की प्रतीक्षा में।

(अगस्त १९६५)

अस्तित्व का गीत

Hell is other people.

—Sartre in In Camera

Hell is oneself.

—Eliot in The Cocktail Party

नर्क है वहाँ, जहाँ लघुतम समापवर्त्तक
आकांक्षा से वर्जना तुली बैठी है
पलड़ा बराबर किये। एकदम घोंट्ट नर्क है
अस्तित्व में गतिरोध।

अस्तित्व का गीत

एक महाकाव्य-सी दुनिया, और
शब्दों सा हमारा अस्तित्व
सार्थकता कहां रेखांकित करते हो ?
महत्ता है निरर्थक महत्वहीनों के बिना।
वे जो नही रहे, उनके अभाव संदर्भ में
नया अर्थ पाते हैं वे जो आज हैं
और फिर कल नया संदर्भ छोड़ जायेंगे।

संदर्भ छोड़ जायेंगे तुम और मैं
एक नया समास पद जोड़कर,
वैसे तुम और मैं निरर्थक हैं
अकेले-अकेले, संज्ञाहीन, क्रियाहीन।

हर एक वाणी की, हर एक गन्ध की,
विभिन्न रूप और रंग की
अर्थवत्ता है हमारे-तुम्हारे सम्बन्धों से;
टूट जाती है संगीत लहरी
मरती नहीं, जीती है मौन उद्वेलन में;
पीड़ा के लाउंज में
फिर नये सुख की प्रतीक्षातुर
सिगरेट पीता खड़ा रहता है काल।

मार्च की सुबह के मुसकुराते फूल, और
जुलाई की शाम की बावली बदलियाँ,
दिसम्बर की दोपहर की नग्नोष्ण धूप
रह जाती अनदेखी, अनगायी,
अगर झाँका न होता, हाँ, आँका न होता
हमने आँखों की खिड़कियाँ खोलकर
मन की अंधेरी गलियों को,
अतीत से प्रकट हो, जो भविष्य में ओझल हैं।

जो भविष्य में ओझल हैं सीढ़ियाँ,
वे नीचे कहीं अतीत से प्रकट हुईं,
वर्तमान की सीढ़ी पर खड़े हुए
अस्तित्व के अन्तर में उलटी उतरती हैं,
गहराई, और गहराई, और-और गहराई;
ऊँचाई पर चढ़ने का हर उपक्रम।

टन-टन-टन-टन-टन-टन घड़ियाँ और
कलेण्डर के पृष्ठ वर्त्तमान को
बाँधेंगे कहाँ, वह आने के पहले ही
अतीत बन जाता है, अविश्वासी
प्रेमी-सा आड़ में खड़ा हो जाता है
भविष्य के ड्राइंग रूम में
सुनता है हमारा वार्त्तालाप अन्य क्षण से,
क्या जाने उसे अहसास है
उसके उपस्थित स्पर्श और सुगन्ध हमें
अजाने ही सचेत कर देते हैं।

अविश्वासी खा जाता है धोखा तो इसलिए
कि वह भी है महत्वपूर्ण

हमने जो कहा नहीं, हमने जो किया नहीं,
कहने और करने के बीच में ।

कहने और करने के बीच में
कभी एक ही नदी में पाँव नहीं रख सकते,
अस्तित्व एक लहर की तरह है,
जो अपनी स्थिति में है और नहीं भी है,
खो गयी है रूपायित एक नयी धारा में;

होना और न होना कोई अर्थ नही रखता
जहाँ हर वस्तु सिर्फ हो रही है;
अस्तित्व को खण्ड-खण्ड कर रहा है अनस्तित्व,
और गर्भ में जन्मती है नयी सम्भावना;

हर शून्य पूर्ण है अनगिनत अभावों से,
रूपातुर सम्भाव्यों से । हाँ एक ना है,
और ना एक हाँ है, जिनका योगफल
हाँ-ना दोनों नहीं है । ठहरे हुए क्षण है
एक बेचैन गति का विशिष्ट रूप ।
विशिष्टता बढ़ जाती है सामान्यता की ओर
नये विशिष्ट को जन्मती ।

जन्मती है जो अराजकता हम सबके
व्यक्ति अस्तित्व से और हम सब
आत्म रक्षा के लिए करते हैं
एक-दूसरे का सामना दुर्दमनीय;
भ्रम जाते हैं कि हमने कुछ खो दिया है,
हमने कुछ ले लिया है इस क्रम में
हम वह नहीं हैं जो थे और जो होंगे;

हम जन्मते हैं एक सामूहिक व्यक्ति को
जिसके साथ और साथ ही जिसके विरोध में
हम जीते हैं मृत्यु-भय लिये।
अराजकता ढल जाती है स्वयं एक व्यवस्था में
अचेत हम रहें तो धारण कर हिंस्र रूप,
सचेत हों तो शान्तिपूर्ण रूपान्तर।

रूपान्तर दर्पण में हर बार,
नये सिरे से अपने से पहचान,
अपने से बातचीत बन गयी
लोगों से बात, और लोगों मे भाषण
बना अपने से सम्भाषण,
भीड़ मे अकेला मन, अकेले में अन्दर
असंख्य चेहरों की भीड़
एक नीड़ सा मिला
किसी स्वर की झकझोरती मींड़ में
और मौन लगता है प्राणान्तक;

क्षण-क्षण जीना और क्षण-क्षण मरना
कभी बन जाता है सदियों के आर-पार
शाश्वत अनहोना; कितना सहज है
रूपान्तर सदियों का क्षण में
और क्षणों का वर्षों और सदियों में,
एक जिंदगी का कई जिंदगियों में
और कई ज़िंदगियों का एक ज़िंदगी में।

काल एक सुविधा का माप है
हमारी गति का; -
काल कोई नही, हम है।

हम हैं जो अस्तित्व का ताप सह दहकर
बन जाते हैं अरूप भाप
छू लेते हैं आसमान, बरस जाते हैं ठण्डे मन
बूँद-बूँद कण-कण में
और अंकुरित आँखें फाड़ फिर रो पड़ते है
अस्तित्व का ताप सह-दहकर;

सार्थक था ताप या ठण्डापन ?
दोनों एक-दूसरे के बिना हैं असम्भव, दोनो का
एकात्मिक संयोग शायद सार्थक है ।
वृक्ष-शीश अंकुर के लिए ही तो जीते है ।

गुलाब हो या कैक्टस,
अपने नन्हें से गमले में अपना ही अंश है ।
जीवन का समस्त अर्जित फल
छोड़ जाना चाहते हैं हम उस शिशु के रूप में
जिसने हमें विवश कर दिया
फल खाने के लिए वर्जित से वर्जित ।

वर्जित फल के एक ओर सर्वशक्तिमान
और दूसरी ओर नग्न वृत्तियाँ—
खोने के लिए नहीं है जिनके पास कुछ भी,
पाने को एक दुनिया है, जहाँ पर
स्वयं एक सृष्टि के सृष्टा वे विश्वामित्र ।

वर्जनाओं के प्रति सदा विद्रोह
सहज स्वभाव है नित नयी सर्जनाओं का ।

स्वर्गोपम उपवन में आदिम आदम
और कॉफी हाउसों में बैठी हुई आज की पीढ़ी—

शैतान साँप की आँखों में झाँक रहे है
अपने अन्दर की भूखी-प्यासी
तीन सौ पैंसठ लेवियेथन आँखों से,
फिर कोई नया फल, फिर कोई नया फल !

स्वर्ग कहाँ है ? शायद किसी नर्क की
वर्जित दीवारों के तोड़ने के श्रम में ।

नर्क न तो कोई अन्य है,
और न नर्क है स्वयं अपने अन्दर,
नर्क है वहाँ, जहाँ लघुतम समापवर्त्तक
आकांक्षा से वर्जना तुली बैठी है
पलड़ा बराबर किये ।
एक दमघोंटू नर्क है अस्तित्व में गतिरोध ।

गतिरोध की चट्टान पर पछाड़ खाती हुई,
टूटती हुई, लहरें कितनी बेबस,
कितनी असहाय मालूम होती है, लेकिन
पूछो क्षण-क्षण टूटते हुए कण से
जिन्हें लहरें ले जाती हैं साथ में;

अपनी राह जाते नल-यानों को
वे चट्टानें बन जाती है दिशा-बोध
जब और कोई चिह्न नही होता;

चट्टान, लहराता हुआ सागर,
और जलयान, हमारे ही अन्दर हैं ।

अन्दर हैं जो दुनियाएँ
वे बोलते हुए संवेदन से जुड़ी हैं बाह्य जगत से,

कलाएँ अपनी कुंजी से
उनके द्वार खोलते हुए थकती हैं,
द्वार पर द्वार, द्वार पर द्वार,
द्वार पर द्वार, अनन्त द्वारों पर द्वार;

वे जो दुनियाएँ अनखोजी रह गयीं
कम रहस्यपूर्ण नहीं थीं,
उनसे जो खोजी गयीं;
और व्यक्तिगत दुनियाओं का विसर्जन—
फिर उन्हें लौटाकर लाने का द्वार
बन्द कर देती है, क्षतिपूर्ति असम्भव है।

गूँजते रह जाते है संवेदनशील शब्द,
जिनसे फिर आने वाले लोग
अपनी-अपनी दुनियाओं का
नया सृजन करते हैं।

सृजन करते हैं मेरे-तुम्हारे
और हमारे व्यक्तिगत जगत जो शब्द,
उनमें हैं कितना सामञ्जस्य, कितना विरोध है,
कितनी लय और कितनी अलय है,
इस पर निर्भर हुआ करता है
नये विश्व-बोध-काव्य का सौन्दर्य।

हम सब शब्द हैं, संगत-असंगत,
सार्थक-निरर्थक, सब अपनी गरिमा में
मस्तक उठाकर उद्यत हैं अपनी जगह पाने को
और इस काव्य को कोई नहीं रचता :
शब्द स्वयं संघर्ष या सन्धि कर
अपनी-अपनी जगह बना लेते है जुटकर
और हर बार नयी-नयी लगती है
आत्मांश-सी प्रिय एक महाकाव्य-सी दुनिया।

(१९६३)

लज़ारस

"……He cried with a loud voice, Lazarus! come forth!" and he that was dead came forth bound hand and foot with grave clothes.

—St. John.

लज़ारस

: १ :

पाले की भारी स्याह दीवारें हर दिशि मे,
सीने पर भारी है आसमान चट्टानी,
वर्फ़ानी सांय-सांय, मुंह वाये
सुन्न पड़ी धरती के होंठ खुले रह गये;

हम मुर्दों की घाटी में दो गज ज़मीन पर
पड़े हैं गड़े हुए, टूटे हुए पाँव और
क्षत-विक्षत भुजाओं में टूटी सितार लिये;

कोई यहां बात नही करता, हां कोई नहीं,
लड़ना-झगड़ना, ईर्ष्या और द्वेष करना
भूल गये, भूल गये, हा-हां हम भूल गये,
सपने हैं नागफनी के टुकड़े, सौ दुखड़े;

घावों पर जम गई पपड़ी, वह कुत्ता भी
चाटता नहीं है अब मर्म-स्थल, वे चार प्रहर
चार-चार मन्वन्तर;
सितारों की आग में
भस्म कर दिया है धरती ने आयु को,
यहां कोई समय नहीं, कोई इतिहास नहीं ।

: २ :

छायाकार चिमनिया मसीहा के बाने में
अजान दे बैठी, 'लजारस उठ बैठो !'

हम जो निस्पन्द और निश्चेतन, चल दिये,
चल दिये कब्र से निकल झूल चल दिये
चल दिये कफ़न में हाथ-पैर बंधे हुए,
बस में नही हाथ-पाँव, अपने नहीं हाथ-पाँव;

गर्वित लूसीफर ऐंठे हुए बैठे है—
निस्तेज नभ के मनहूस तख्त पर—
ताकते है हमको पैनी निगाहो से :

हम कहां जायेगे ? दुराहो पर पुलिस के
पेशावर पैगम्बर राह बतलाते है :
जहा कोढ पलता है, गलता है, रक्त-बिन्दु
करेंट एकाउण्ट में बहते ही जाते है—
गंगा मे टेम्स तक;

रिसते ही रहे घाव,
और हम पड़े रहे ऐश्वर्य के द्वार पर,
अपना न हुआ दिन, सूरज हमारा—
गल-गल कर जल गया इस्पाती भट्टी में।

: ३ :

खिच गई सिलेटी गगन में सड़े हुए
काले लहू की रेखाए, बांझ गाय दिन की
दब गई मत्त स्याह कार के नीचे, और
कोलाहल भी गरम हुआ;

आवारा आत्मा ने
फेरे लगा लिए गलियों के, टपरे के
होटल में बुझा ली प्यास, फिल्मगाहों में
जांघों की तपिश खामोश हुई, हहराते
तने हुए वृक्ष रूक्ष झर पड़े;

चाँद के साये में
भीगी हुई पत्तियां ओढ़े हम खो गये,
ल लल ला···ल लल ला···
लोरिया गाती हुई वीरानगी सो गई,
पाले की मारी स्याह दीवारें घिर आयी,

सीने पर जम गया आसमान चट्टानी,
बर्फ़ानी सांय-साय कनफुसिया रह गई :
लज़ारस हार गया, सोया नहीं मर गया।

: ४ :

मारथा मत रो, रो मत, मत रो।

हमें अहसास न था प्यार के मसीहा का,
हटा तो दे स्याह चट्टान, द्वार खोल दे,
आ रहा है दिशाओं को जीतता आदम-पुत्र।

मरी हुई घास पर हथेलियां फेरती
सपनों के बीज सहलाती हुई, मुर्दों की
सांस कसमसा रही है दिशाओं में;

आ री आ, कब्र के कफ़न को फाड़ दे,
आ तेरे बाजू कहां है, बाजू कहां हैं।

(१६५७)

सन्दर्भ

लज़ारस की कथा बाइबिल के 'न्यू टेस्टामेण्ट' सकलन में सन्त ल्यूक और सन्त जान की वार्ताओं में प्राप्त होती है। लज़ारस एक दीन-हीन व्यक्ति था। रिसते हुए घावों की असह्य पीड़ा भोगता हुआ लज़ारस एक अत्यन्त धनी और ऐश्वर्यशाली व्यक्ति के द्वार पर पड़ा रहता था। स्वामिभक्त कुत्ता ही एक मात्र साथी था। अन्ततः लज़ारस की मृत्यु हो गई और वह दफ़ना दिया गया।

तभी प्रेमावतार ईसा वहाँ से आ निकले। उन्हें लज़ारस की बहिन मारथा ने अपने भाई की दुखद मृत्यु का समाचार सुनाया और दूसरी बहिन मेरी तो इतनी शोक सन्तप्त थी कि वह ईसा का सत्कार करने के बजाय लज़ारस की कब्र पर आँसू बहाने चली गई। ईसा लज़ारस को बहुत प्यार करते थे। उन्होंने दोनों बहिनों को धीरज बधाया और लज़ारस को पुनर्जीवित करने का आश्वासन दिया।

लज़ारस की मृत्यु को चार दिन हो चुके थे। फिर भी ईसा ने उसकी कब्र पर रखे हुए पत्थर को हटाने का आदेश दिया और पुकारा, "लज़ारस उठ बैठो!" और लज़ारस कफ़न के वस्त्रों मे लिपटा हुआ उठ बैठा—जीवित हो उठा।

कविता में एक स्थान पर 'लूसीफर' की चर्चा है। लूसीफ़र बेबिलोन का क्रूर बादशाह था। लूसीफ़र सुबह के सितारे को भी कहते हैं।

लज़ारस प्रतीकार्थ में प्रयुक्त है। कथा की संगति के साथ यह कविता आधुनिक नगर के चौबीस घण्टों के जीवन का चित्र भी उपस्थित करती है। शिल्प बिम्ब-प्रधान है, अतः चित्रों का अर्थ समझने के लिए थोड़ी-सी कल्पनाशीलता अपेक्षित है।

एक पुराने महल में

Houses live and die : there is a time for building
And a time for living and for generation......

T. S. Eliot.

एक पुराने महल में

मैं बैठा हुआ हूँ
इस पुराने महल में
जिसके दर्प पर छाये हुए है
मकड़ियों के जाले
मेरा गर्व झरता है
जर्जरित प्लास्टर के
क्षरने की आहट से
(शायद ऊपर से कोई जेट
निकल गया है
अट्टाहास करता)
मुझे लगता है जैसे मैं
क्षुद्र तिलचट्टे-सा रेंग गया हूँ
दुबक कर
और तिलचट्टों के दुबक बैठ जाने से
क्षरना नही रुकता है
जर्जरित प्लास्टर का।

मैं बैठा हुआ हूँ
इस पुराने महल मे
जिसमें हर दिन एक ईंट-सा गलकर
खिसक जाता है सिसकता

अतीत का गर्व-गुम्बद
मौत बनकर टूट पड़ना चाहता है
मेरे सिर पर
वर्तमान दरारों से झाँकती हुई
उच्छृंखल दूब के शैतान इशारों पर
काँप-काँप उठता है
सारा अस्तित्व
(शायद कहीं डायनामाइट से
उड़ा दी गयी है
धाराएं रोकने वाली चट्टान)
मुझे लगता है जैसे मेरी धड़कनें
दूब में समायी हुई
एक सूरज को ताकती हैं आशा से
और सूरज को ताकने से
सिमकना नहीं रुकता है
गलती हुई ईंटों का।

मैं बैठा हुआ हूँ
इस पुराने महल में
एक साँप फुफकारता है शीश पर
मणि धारे
मेरी विरासत है विषैली हिरासत में
और जान साँसत में
वे जो जानते थे
जहर उतारने का मन्त्र
उन्हें सूँघ गया है साँप
और मैं अकेला हूँ
नशीली आँखों के जादू से बँधा हुआ
मैं छटपटाता हूँ

कोई है कोई है
मेरे गले से क्यों नही निकलती है
कोई भी आवाज़
मैं डरता हूँ नारों से
(शायद कहीं सड़कों से
निकल गया है
नारों का जलूस)
और नाग की आँखों का जादू
टूटता ही नहीं है
कोरे छटपटाने से

मैं बैठा हुआ हूँ
इस पुराने महल में
झरना नही रुकता है जर्जरित प्लास्टर का
सिसकना नहीं रुकता है गलती हुई ईंटों का
टूटता नही है जादू नाग की आँखों का
क्या मैं ढह जाने दूं इस महल को
अपने आप
क्या मैं दफना दूं जीवित ही अपने ताप
या उठ बैठूँ
और बाहर निकल पड़ूँ
चीखूं और चिल्लाऊँ
बारूदी सुरंगें बिछाकर लगा दूं
एक आग
जो मेरे अन्दर
सुलग रही है न जाने कब से

(फरवरी १९६५)

रात पहले पहर में

Homelessness is becoming a world fate.

—Martin Heibegger.

Who has no home now will not build one any more.
Who is alone now will remain alone.

—Rainer Maria Rilke.

रात पहले पहर में

मार खाए हुए बेताब दिन की रग-रग
लाल-लाल···नीली-नीली···और फिर काली
पड़ गई है। जगमग-जगमग

नियोनलाइट का अभिजात चेहरा
उतर गया है सुनकर मानो कोई गाली।
छितर गया है मनहूस कुहरा।

उधार लिया उड़े हुए स्याह रंग का ओवरकोट
ओढ़े हुए खड़ा है एक वृक्ष
चौराहे पर। जैसे पिटी हुई गोट

राह की रेलिंग के सहारे खड़ा हुआ
शायद मैं ही हूँ, निरपेक्ष और निष्पक्ष
अपने से और सबसे, हूँ और नहीं

चौराहों के सलीब पर हर कहीं
काले लहू से लथपथ मैं हूँ जड़ा हुआ
पंथ हो गये हैं खाली, खाली, खाली···

एक सनसनी से बोझिल, आतंकित हैं
ठहरी हुई, सहमी, बेचैन हवाएँ
फुस-फुस कही होती है बातें

उन षड्यन्त्रकारियों की मीठी बोलती घातें
आज के दिन जो सत्ता की रंगीन ध्वजाएँ
फहराये रख सके, कल के लिए चिन्तित हैं ।

जिनका न कल था, न आज है,
न कल होगा, वे टेलिग्राफ खम्भे
खड़े हुए हैं एकान्तिक, लम्बे-लम्बे

कन्धों पर सारे तार, सारा राज-काज है,
ओर-छोर पर टेलीप्रिन्टर और राटरियाँ
गढ़ रहे हैं झूठ के खूबसूरत शैतान,

जो कल सुबह खोजेंगे : कहाँ है इन्सान,
बना देंगे उन सबको भुस की गठरियाँ,
मांस से भर जायेंगी फ़ैक्टरियों-दफ्तरों की गुफाएँ !

दिन में फ़ैक्टरियों-दफ्तरों की छतों से लटकी हुई
चमगादड़े अब पंख फड़फड़ाती है, कोई शाख तड़की,
तड़प रहा हूँ मैं—कहाँ है घर, कहाँ है घर ?

एक बंगले में पहुँची आकांक्षा भटकी हुई
जो मानो एयर-इण्डिया का रिसेप्शन है, जहाँ हर लड़की का
बिजनेस है मुसकुराना, आँखें मटकाकर ।

वह घर है या कोठा, जहाँ एक भोली-सी औरत
लेट जाती है साथ मे दो रोटी की खातिर
हर बेटा और बेटी जहाँ किसी पाप की निशानी ।

अलमारी के खानों-सी कई मंजिली इमारत,
माल जिसमें भर दिया जाता है ठूँस-ठाँसकर,
राजदण्डधारी करते रहते हैं निगरानी,

वक्त आते ही चल पड़ता है यह माल
ग्राहक के पास अपने आप, अपनी चाल,
लौट पाया तो लौट आता है फिर अपने खाने पर !

बेघर और बेदर, राह की रेलिंग के सहारे
मैं खड़ा हूँ, समय ठहरा है सितारों में,
ठहरा रहेगा कब तक अपने स्वभाव के विपरीत !

बाहर हर तरफ़ ठण्डे हैं स्पर्श सारे
अन्दर धधकते हैं अहसास के क्रुद्ध गीत,
जलना है जिन्दा रहना इन गलियारों में;

मांस के जलने की तीखी गन्ध, दमघोंटू यातनाएँ
कुहरा बनी छाई हैं, मौन का पत्थर है छाती पर।
मैं सहसा कितना बड़ा हो चला हूँ इस थाती पर,

आसमान छू रहा है मस्तक और बाँहें दिशाएँ,
मेरे मुंह का धुआँ छा गया शहरों और गाँवों पर,
धरती सिमट आई है सिकुड़ी मेरे पाँवों पर,

जी चाहता है, एक ठोकर से उड़ा दूं यह पत्थर,
थूक दूं : उफन जाएँ बँधे सिन्धु सारे,
मुट्ठी में पीसकर ब्रह्माण्ड, गढ़ दूं एक घर···एक घर !

(जनवरी १९६४)

विलुप्त पीढ़ी का गीत

MARY : Really, Cousin Gerald, if you want information.
About the younger generation, you must ask someone else.
I'm afraid that I don't deserve the compliments :
I don't belong to any generation.

—T. S. Eliot in 'Family Reunion'.

विलुप्त पीढ़ी का गीत

मेरी कोई पीढ़ी नहीं ओ बुजुर्गो
कोई पीढ़ी नहीं
वह मैं नहीं जिसको पुकारते हैं आप
शायद कही हो
शायद कहीं...

मंच पर दृश्य परिवर्तन के बीच कहीं
जो अंधकार आता है
जिसका कोई दर्शक नहीं कोई श्रोता नही
उसका अनजाना अनदेखा
अस्तित्व
आप नहीं जानते, नहीं पहचानते
धृष्टता क्षमा करें

क्षण और क्षण के बीच ठहरा हुआ समय
जिसे कोई नहीं भोगता
किस वेदना में जीता है क्या प्रतीक्षाएँ
करता है
वह गत-आगतातीत
अनानुभूत सत्य
आप नही जानते नही पहचानते
धृष्टता क्षमा करें

लिखते-लिखते जब टूट जाती है एक पंक्ति
तब दूसरी से पहले
जो रिक्तता छूट जाती है स्वाभाविकतया
वह अभिव्यक्ति शून्यता
की तिक्तता
आप नहीं जानते नहीं पहचानते
धृष्टता क्षमा करें
धृष्टता क्षमा करें

आप मुझे जकड़ना क्यों चाहते हैं
पतवार की तरह पकड़ना क्यों चाहते हैं
आपकी यह नौका
लहरों के शीश पर
नहीं
रेत के खीसरों पर रखी है ओ बुजुर्गो

मेरी कोई पीढ़ी नहीं ओ बुजुर्गो
कोई पीढ़ी नहीं
पीढ़ियाँ होती इन्सानों की, पशुओं की
नहीं कभी जिन्सों की

जिन्सें जो फुटपाथों के खोमचों पर
मक्खियों के चूसने से
पड़ी हुई है
निर्लिप्त और निरपेक्ष
जिन्सें जो शोकेसों में न्योनलाइट के
प्रकाश की चकाचौध हँसी
होंठों पर सजाकर
गौरवमण्डित या दण्डित

नक़्द जिन्सें हैं जिनमें मैं भी पड़ा हुआ
इन्तज़ार करता हूँ
विमान से उतरने वाले
देवता ख़रीदार का

जिन्सों का कोई पितृ रूप नहीं
वे मनुष्य को नहीं
जन्म देती हैं सिर्फ़···
सिर्फ़ मुनाफ़ों को
बैंकों के पिंजड़ों में बन्द पड़ी हुई है
उनकी आत्माएँ
जो कभी मनुष्य थे
आज सिर्फ़ जिन्स हैं जिनों के पहरे में
हाट उठ गयी है यह जिसको
आप अपनी
कह रहे थे
आपको मैं दोष क्या दूँ ओ बुज़ुर्गो

आपकी कोई अगली पीढ़ी नहीं ओ बुज़ुर्गो
कोई अगली पीढ़ी नहीं
क्या है धरोहर जिसकी रक्षा आप चाहते हैं
क्या है परम्परा
जो आगे बढ़ायी जाय

उत्तराधिकार
भूखा नंगा आततायी छप्पर निराधार
बरसात के अनगिनत छन्दों के मारे
काँपते हैं भयभीत तारे
न रक्षा करता है

न वज्र वन
वक्ष पर गिरता है
जिसके साये में न मौत है न जिन्दगी

परम्परा
एक शिला-लेख धरती के सीने पर आ गिरा
भाषा कोई नहीं जानता जिसमें वह लिखा है
अजायबघर में रखा है
मिलों की चिमनियों में
दफ्तरों की फ़ायलों में
डूब गयी है सदियाँ
शेष केवल कौतूहल है
जिनके न पीछे कल है और न आगे कल है

भवसागर पार तरने की प्रार्थनाएँ
तथास्तु
पूरी हो गयी है
अब कोई नहीं और आगे पार तरने को
लहरों की भुजाएँ
चट्टानें बन गयी है
निर्वाण पा गयी हैं सारी आत्माएँ
और क्या कामनाएँ है ओ बुज़ुर्गो

मेरी कोई पीढ़ी नहीं ओ बुज़ुर्गो
कोई पीढ़ी नही
रेगिस्तान के जगह बदलते ढूहों में
दबी पड़ी सभ्यताएँ
पड़ी होंगी पड़ी रहें

ढूह जगह बदलते हैं तो नया रूप
कोई नया नहीं होता
दिखायी दे जाती है कहीं कोई दूब
मृगतृष्णा है
जिजीविषा
किसी सम्भावना की एक प्रतीक्षा
मैं वह प्रतीक्षा हूँ
केवल प्रतीक्षा
अविराम···अविराम···अविराम

(१९६३)

एक और दिन

If you are still living, never say never.
What is certain is not certain.
Things will not stay as they are...
Never becomes Before The Day Is Out.

—Bertolt Brecht.

एक और दिन का गीत

एक और दिन…
स्याह मौत के मुँह में
हाथ डाल कर
तोड़ लिया है
सफेद दाँत
मेरी गुलाबी हथेली पर
रख दिया है समय ने
शायद फिर मजाक
कर लिया है मुझसे
जिस पर वह खुद ही हँस पड़ा है
मैं नहीं हँस सका

•

मेरी काली आँखें
जिन किरणों से नीली-भूरी
हो गयी हैं निरभ्र
उन्हें मैं
देखता हूँ विस्मय से
फैली हथेली पर गहरी रेखाएँ
गीली-गीली सड़कों सी
मुझे बुलाती है

अर्क आर्य

मैं नहीं जानता इन
रेखाओं का अर्थ
फिर भी शायद आदत से
विवश सा
मैं चल पड़ता हूँ
पांव रखने लगता हूँ भविष्य में

जब मैं ठिठक जाता हूँ
खिड़की से झांकते हुए
फूल को
या मुंडेर पर बैठे हुए
कबूतरों को
देखने की लालसा से
एक शीतल सुगंधित हिलोर से
भर जाता है निर्जीव सूना सा अस्तित्व
एक और गीयर बदल जाता है
कहीं मेरे अन्दर
हाथ स्टीयरिंग पर
महसूस करते है
धड़कनें
धक् धक् धक् धक्
पेट्रोल और फूलों की
मिश्रित सुगंध से
अभिभूत गति अधिभूत

मैं राह के पेड़ों
और खम्भों को
छूता हुआ चलता हूँ

पोस्टरों और साइनबोर्डों को
पढ़ता हुआ बढ़ता हूँ
और मुझे
लगता है
हर चीज़ के होंठों पर
एक अनसुना प्रकम्पन है
अनगुंजा
और उन सबके लिए
मेरे अन्दर कुछ शब्द है
अनसृजित
जिनको मुझे अपनी
प्राणप्रिया के लिए ही
रचना है संजोना है

हर वस्तु जिसे मैं
देखता हूँ छूता हूँ
सुनता हूँ चखता हूँ
श्वासों में भरता हूँ
एक शक्ति दे जाती है
अनायास
समस्त आकारातीत
स्पर्शातीत स्वरातीत
स्वादातीत गंधातीत
और मैं विह्वल हो उठता हूँ
उसे दे देने को
किसी नव आकार में
नवल स्पर्श में
नवीन स्वाद नये स्वर में

और कुछ नहीं तो तरंगित सी
किसी नयी गंध में

मैं पत्थर बो देता हूँ
नगर खड़े हो जाते हैं
मरुस्थल में
इस्पात में रोपी हुई धड़कनें
ढालने लगती हैं
नये रूप नये रंग
मिट्टी उछाल देता हूँ
ठहर जाती है वह नभ में
नक्षत्रगण बनकर
रेखाएँ खींच देता हूँ
शब्द साँस लेने लगते है
कालजयी अक्षय

अपनी उपलब्धियों पर
खुश होता हूँ बच्चों सा
किन्तु तभी
असन्तुष्ट हो उठता हूँ
उनमें अपने को न पाकर
सर्वांग और सम्पूर्ण
मैं बड़ा हो उठता हूँ
बहुत बड़ा
मेरा सिर आसमान चीर कर
उठ जाता है वहाँ तक
जहाँ तक रिक्तता है
शून्य है

अपनी महानता से पराजित
में देखता हूँ दिन को लहू - लुहान
सांझ की बाँहों में
मैं उद्विग्न मन लेट जाता हूँ
अपनी आयु की शैया पर
कल फिर होगा तो देखूंगा

(१९६४)

एक सिलहुट

कुछ आदमी को हैं मजबूरियाँ
भी दुनिया में,
अरे वो दर्दे-मुहब्बत सही
तो क्या मर जायें।

—फ़िराक गोरखपुरी

एक सिलहुट का गीत

: १ :

पार्क की पाषाणी बेंच और तुम्हें मेरा इंतज़ार,
पहली मुलाक़ात के पहले ही वायदे की मीठी सी पुकार
सुनकर, मैं भी चला आया हूँ, पर न आऊँगा तुम्हारे पास,
दूर इस वृक्ष की ओट में खड़ा हुआ देखूँगा सिलहुटी रूपाभास;

सिलहुटी रूपाभास : यह भी कुछ क्षण है, चुपके से उतर आये
पुनः दिन की मौत के साये···यहाँ छाये, वहाँ छाये
शोक समाचार के मोटे-मोटे हाशियों से पेड़ गहराये
घिसे-पिटे रस्मी संवेदना संदेशों सी हवाएँ : कोरी बकवास,
अच्छा होता, चुप रहतीं, हवाइयाँ उड़ाये,
चुप रहतीं, वायदे न आते याद, न आते याद,
दिन गल गया तो उम्र भी गल जाती इस क्षण के बाद।

मेरे लिए कोई नयी बात नहीं :
कोई नया दिन नहीं, कोई नयी रात नहीं,
कोई दिन गल कर कंचन न बन सका
कोई रात ढल कर आँचल न बन सकी,
मेरे लिए कोई न क्षण रुका।

शायद नया न हो अनुभव तुम्हारा भी,
क्या, कभी प्रयत्न किया तुमने दुबारा भी ?
आज नहीं कल का दिन शायद कोई उत्तर हो !

खड़ी है अड़ी हुई वेहया-सी जिन्दगी भरपूर,
तुमसे दो-चार गज़ ही दूर, और तुम वेखवर हो ।

:: २ ::

कभी बुझती और कभी खिलती न्योनलाइट बहुत बेसबर
बुलाती है वहाँ आँखों के इशारों से, जहाँ रात का प्रथम प्रहर
खिलखिलाता है, चिन्ताएँ ऑफ़िस की ऑफ़िस, घर की घर
छोड़-छोड़कर, क़हक़हे करता है कहवे की प्यालियों की नजर;

तुम देख लेती हो, इधर-उधर मुड़-मुड़कर हर बार,
म्युनिसिपल लैम्प पोस्ट बन जाते हैं ज्वलन्त प्रश्न-चिह्न बेकार,
उत्तर तो बहुत हैं : स्याह आसमान-सी फैली हुई लाचारी,
क्या कहूँ कि खाली जेबों का आत्म-सम्मान क्यों है भारी ।

भरी हुई जेबें और झरी हुई जेबें···
सारी दौड़-धूप और सारी भाग-दौड़···
पता नहीं, जिन्दगी में कब आयेगा मोड़···
···और तुम बेसबर हो ।

खड़ी है अड़ी हुई वेहया यह जिन्दगी भरपूर
तुम से दो-चार गज़ ही दूर, और तुम वेखवर हो ।

: ३ :

शनिवार की शाम को सिनेमाघरों की भीड़ जैसा उल्लास
कल मैंने देखा था तुम्हारी आँखों में,
देखा था हिमगिरि पर पूनम का उजास,
और मैं हूँ इस दुनिया का प्राणी
तीन-तीन हफ्ते तक लम्बी होती है अमावस जहाँ प्रतिमास,

साहित्य और कला के प्रसंग, कॉफ़ी के प्याले के मीठे से उत्तर
हर व्यक्ति ने कर डाली थी स्वयं की शाहंशाहों सी ताजपोशी,
किन्तु मौन बेयरे का प्लेट पर छोड़ जाना एक प्रश्न
और सहसा मेज की खामोशी

तब मुझे बड़ा भला लगा,
बाहर सड़कों पर उछलते जलूसों का कोलाहल,
ज़िन्दगी की तड़प और संकल्पों का सम्बल,
एक मैजिक लैन्टर्न,
मेरे धुंधले-से सपनों को रूप दे जाती है रोशन

वह तुम नहीं हो, और जो हो, वह भी तुम नहीं हो,
तुम वन्या हो, आदिम हव्वा, चाहे तुम गाँव-नगर कहीं हो,
वर्जित फल चखने को उत्सुक हो, तो आना
कल फिर आना, और कड़ुवे या मीठे स्वादों से न पछताना,

हरे-हरे आँचल में दुबकी पड़ी है कामनाएँ सर्पीली,
थोड़ी-सी चोट से फन उठा उगल देती हैं विष गर्वीली,
सँभल कर पग धरना, पार्कों में, लॉनों, जानों-अनजानों में,
हम सबमें कहीं एक साँप है लिजलिजा गह्वर-ढलवानों में,

प्राण लेता है भय, कोई विष नहीं,
अभय हो, बेअसर हो।

खड़ी है अड़ी हुई बेहया, यह ज़िन्दगी भरपूर,
तुमसे दो-चार गज़ ही दूर, और तुम बेख़बर हो।

: ४ :

मैं तुम्हें छोड़ चला जाता हूँ, आज मैं असमर्थ,
न तुम दमयन्ती हो और न मैं नल हूँ,
न तुम अप्राप्य यौवन हो और न मैं अमरता का पल हूँ,
कल शायद तुम समझ पाओ इस सबका गूढ़ अर्थ,

मैं जैसा हूँ, जो भी हूँ, जितना भी बड़ा या छोटा हूँ,
कोई लगाव हो तो देख लेना, अच्छा हूँ, यदि खोटा हूँ,
पहली नज़र का प्यार : यह भी है चमत्कार
वैसा ही जैसे मध्यवर्ग से
पहली ही माँग पर वापस मिल जाये छोटा सा उधार।

जीवन है जल का पर्याय : खोज लेता है समान स्तर
पात्र और कुपात्र में, अक्सर बुलन्दियों से उतर कर,
कुछ मैं उतरूँ, कुछ तुम उतरो,
सीप-शंख छोड़ गई लहरों के पग धरो।

आज नहीं कल और कल नहीं परसों···
हम फिर मिलेंगे, मिलते रहेंगे, शायद यों बरसों,

मैं नहीं, और सही, तुम नहीं, और सही, कही और अनकही,
खोज लेती है जिन्दगानी हमसफ़र, रही और अनरही,
थोड़ा और सोच लो, अभी बेसफ़र हो ।

खड़ी है अड़ी हुई बेहया ये जिन्दगी भरपूर,
तुमसे दो-चार गज़ ही दूर, और तुम बेख़बर हो ।

(१९६१)

पुरुष-प्रिया का गीत

मको तुम पिय एक हो, तुमको हमसी कोरि
हुत भांति के रावरे प्रीति न डारो तोरि
एक ही बार यों !

—नन्ददास, 'भ्रमर-गीत'

पुरुष-प्रिया का गीत

सोलहवें वसन्त की विह्वल बयार पर
मैंने लिख दिया था
अटल एकान्तिक राग अनबूझे
कामनाओं ने अनपूछे
फूंक दिये थे बीज शिथिलांग साँसों से
वासुदेव, क्या जाने, तुम तक पहुँच जायें
अंकुरायें, फल पायें
सम्भाव्य के आलिंगन से बड़ा कोई सुख नहीं !
तुम्हारे लिए खेल ही था शायद
यौवनसरित के कगार पर बनकर जब अबोध शिशु
तुमने उघार दी थी समस्त गुह्यवृत्तियाँ
हरण कर लिए थे कुंठाओं के चीर
किन्तु हे संकर्षण !
हमारे लिए वे बेसुध क्षण
उस सरल-सहज बोध से बोझिल थे
जिन्हें चुन-चुनकर नन्हें से पंछी घोंसले बुनते हैं
साँसों की बाँसुरी बना लेते अधर धर
रोम-रोम छू लेते संवेदन वादन कर
सफल हो जाता न क्या अस्तित्व का दायित्व
शान्त हो जाता न क्या भ्रान्त अन्तर का
उद्दाम आलोड़न ?

जी नहीं हुआ कभी कि विश्वास कर लें
किन्तु जब तुमने किया ही है ऐसा
शायद यह सत्य हो
नहीं थी तुम्हारे योग्य मैं सहभोगिनी

वेणुस्वर बन जाता मेरा हर रोम-रंध्र
बन कहाँ सकता था पौरुष का पांचजन्य
मन जो स्वयं दरस-परस प्यासा था
बनता भी कैसे अतुल बल का सुदर्शन
नारी की निष्ठा है सहज, नयन भाषा है पर्याप्त
तुम्हारी ज्ञान-गीता को कहाँ यहाँ मिलता
संशय का कुरुक्षेत्र !

तुम महाभारत में गौरव रवि उदय हुए
किन्तु क्या देखा नहीं तुमने
पीती रही ताप और जीती रही खिल-खिलकर
अंतिमतम साँसों तक धरती के अंक में
पंकिल कमलिनी ?
तुम्हें छीन ले गयीं मेरी अबल बाँहों से
अठारह अक्षौहिणी लहरों की भुजाएँ
मैं सीपी-सी तड़पती रह गई समय के तट पर
हे सहस्रबाहु !

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्
संशयग्रस्त पार्थों को दिखा दिया विश्व-रूप
विराट लोक-जीवन पर वार दिये पार्थिव स्वार्थ
सारथी, मोड़ दी काल की वल्गाएँ
अवध्य इतिहास की अव्यय देह धारण कर
तुम बने अजर-अमर
—धर्मसंस्थापनार्थाय युगे-युगे !

हे महान् !
वहुत सामान्य था इन बाँहों का आवेदन
ऐसा नहीं, कभी किसी नर-नारी ने किया न हो
हर घर में भरे ही है गोरस के ठीकरे
एक मेरा भी हो जाता तो क्या होता
एक जलविन्दु में विंदु भर मिल जाता
अगाध जीवन की सरिता अनवरता में

वहुत पुरुष सुलभ था तुम्हारा मुझे ठुकराना
हे पुरुषोत्तम !
वहुत ही सुलभ है मेरी कातर कथा-व्यथा
हर वृक्ष के नीचे, हर तट के कगारों पर
अनगिनत साँसें भटकती है, अटक जाती हैं
हर रात के सितारों में
हर प्रात जन-रव में चीखो की डोली खो जाती है
पुरुष-प्रिया की लोक कथाएँ यों ही
दिन ढलते सो जाती हैं

सुधि मत लेना इस अकिंचन की
वंचना नहीं हूँ मैं दायित्व के पंथ की
दबी हुई सुबुक कभी सुन पड़े अगर तुम्हें
फूंक देना पांचजन्य
स्मृतियों को क्षार-क्षार कर देगा सुदर्शन

करुणा न करना हे गोवर्धन गिरधारी !
कट जायेगा जीवन तिमिरावृत घाटियों में
तुम्हारे हिम-शिखरों की शुचितम शशिप्रभा का
अमृत इन सुलगती आँखों से पीकर

मैं बावरी ही सही, किन्तु हे दयानिधे !
प्रीति हतभागनी पर दया मत करना
मैंने ओढ़ लिया है निर्लज्ज लौह-कवच
लोकनिन्दा के शिशु तनिक ले भी लें आनन्द
एक गुमनामी से हज़ार बदनामी है बहुत भली

अपने नेकनाम को सम्भालना हे कर्णधार !
मेरी बदनाम नाव उसी पतवार से पार उतर
जायेगी
तुम्हारी प्रसिद्धि प्रिया मेरी ही सिद्धि है

अनन्यतम नहीं है कुछ मेरा प्यार, मेरी हार
वार देंगी बार-बार तुम पर
पुष्पित क्षण कोटि नारी
धरती सी कठोर, धैर्यवान है
पद-दलित छातियाँ पयस्विनी युगे-युगे

मेरी हार घूमती है गौरव किरीट धार
आज हर वीथी में
वह तो हमारी ही महानता का बिम्ब है
मैं तो मात्र दर्पण हूँ
मेरा हर अश्रु अगर अनमोल मोती है
वह तो तुम्हारी ही गहनता का प्रतिफल है
मैं तो मात्र अर्पण हूँ
मैं हूँ अभिनन्दनीय, वंदनीय
वह तो तुम्हारे ही निग्रह की पूजा है
मैं हूँ नैवेद्य मात्र
मैं हूँ ही कहाँ
हाँ, तुम ही तुम हो

लोग अपनी ही करुणा की मूर्ति गढ़
व्यर्थ याद करते हैं राधा, राधा !
मेरा प्यार निस्संशय जनमता रहेगा हर युग में
तुम कब-कब आओगे हे चतुर्व्यूह ?
मुझसे नहीं उस संशय सामाजिक से
तुमने ही तो वायदा कर दिया था
परित्राणाय विनाशाय संभवामि युगे-युगे
आना, हाँ, आना
देख लेना
मैं हूँ चिर पुरुष-प्रिया
मेरी अनन्य प्रीति, मान्य रीति-राह छोड़
विस्फोटाकार हो जायेगी तुम्हारे स्वधर्म पर
पुनरार्पित युगे-युगे

(१९५४)

मेरे हाथ स्वीकारो

किमेतद् भो ! भयं नाम
भवतोऽद्य मया श्रुतम् ।
भीतानामभयं दातुं
समुत्पन्नो महीतले ॥
—भास, बालचरितम्

मेरे हाथ स्वीकारो

१

मित्रता की सीमाएँ होती है हिमाचल सी
उल्लंघन अंगुल भर स्याह बादल के टुकड़े सा
एक कोने में उभर कर
अनंत आसमान भर देता है
वर्षा कर देता है तूफानी घृणा की

अंतस्तल की स्निग्ध नदियों का जल
उफनेगा क्या होगा
ह्वांगहो के अंचल से पूछो

दोस्ती का हाथ कमल कोमल है
आँखों से लगाने पर
ढल जाते है इस्पात
मिट्टी के हौसले भी
आँखों में भट्टियाँ दहकने जब लगती हैं
पंजा शिकंजा है

रक्त का भय—क्या दिखाते हो
इसी रंग से रंग दिया है
अभी-अभी

धुंधला सा सवेरा
अँधेरा समुंदर पार पश्चिम में
यों ही नहीं जा छिपा

सत्य बड़ी शक्ति है
इसीलिए युद्धों से पहले एक सत्य की
हत्या की जाती है
और फिर शवों के अंबार खड़े करके
छिपाया जाता है अपराध

कितनी बार संहारा है सत्य को
कितनी बार मारा है मनुष्य को
किंतु सत्य अक्षर है
मानव अविनश्वर है

सत्य और मनुष्य दो हैं और एक है
सत्य के हाथों की ध्वजा पर लिखा है :
मनुष्यता

वह जो संकल्पों का जनक है हिमश्वेत
कोमल-कठोर मन
द्रवित और अदम्य, हज़ार-हज़ार दर्रों पर अभेद्य
अपराजेय प्रहरी हिमालय नाम है उसी का

निर्मल गंगा के नंगे हाथ एकजुट लहराते हैं
संगीनें टूट-टूट जाती हैं
संकल्पों की धारा काटे नहीं कटती
आओ, एक लहर बन जाएँ ऐ दोस्त

२

क्या दिन आ गये
बदहवास चीखना और चिल्लाना
कहलाता है वीरता

क्या दिन आ गये
गलियों की गाली-गलौज बड़े मौज से
कहलाती है कविता

क्या दिन आ गये
घिनौने पितृघाती हाथ दावा करते हैं
पावन मातृभक्ति का

क्या दिन आ गये
किसी आक़ा के साये में जान बचा लेना
परिचय आत्मशक्ति का

क्या दिन आ गये
एक बर्बरता से बचाने के लिए हमको
खा जाना चाहती है दूसरी बर्बरता

क्या दिन आ गये
देशभक्ति का बाना पहन गर्व से
माथा उठाती है पतित स्वार्थपरता

३

वह हाथ जो शीत ताप से स्थितप्रज्ञ
संगीनें ताने खड़ा है संगीन चौकी पर
अपना जवान है।

वह हाथ जो प्राणों का सारा रस सौंप कर
फ़सलें उगाता है हरे भरे जीवन की
अपना जवान है ।

वह हाथ जो फ़ाइलों के फ़ीते रग-रग से बाँधता है
जोड़ता है एक सूत्र सारी व्यवस्था को
अपना जवान है ।

वह हाथ जो घर-घर के स्नेही धागों को चुनकर
बुनता है स्वेटर वर्बरता के शीत से रक्षार्थ
अपना जवान है ।

वह हाथ जो शब्दों का शिल्पी है, गढता है शौर्य-धैर्य
आत्मविश्वासों की जीवंत मूर्तियाँ काल-जयी
अपना जवान है ।

कहाँ नही है मोर्चा
कहाँ हो तुम
तुम्हारे हाथ कौन से है ऐ दोस्त
मेरे हाथ स्वीकारो

(अक्तूबर १९६२)

राहें चलती रहीं

नियतं कुरु कर्म त्वं
कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न
प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥

गीता, ३।८

राहें चलती रहीं

१

राहें चलती रहीं, हमारे कंधों पर चढी हुई;
हम ढोते रहे अपने होने का बोझ। हाँ, राहें चलती रहीं।

आरम्भ के पहले ही अन्त और अनन्त अन्तों के बीच
कहीं अपना प्रारम्भ। अजनबी लगा भुरभुरी पगडण्डियों का
सख्त कंकरीटी, एस्फाल्टी स्वरूप। अजनबी-सा
लगा बैलगाड़ियों का अन्तरिक्षी यानों में रूपान्तर।
शून्य आकाश को ओढ़े हुए, हम ठगे से खड़े रहे,
हमें कौन पहचानता कि जब हम थे स्वयं से अपरिचित।

हमारी अँधियारी आँखों के बरसते हुए पानी में
बाँझ धरती की गोद से दमक उठीं कोंपलों की दंतुलियाँ,
मांसल हरियाली इन्ही राहों पर वसन्तों के आने की
राह देख-देख स्याह हुई, रथों पर चढा हुआ
वसन्त कभी आया तो दूर से निकल गया।

हसरतों ने सन के बाल पहन लिए। पहाड़ उठ खड़े हुए
नन्हे से गुलाब पर, दल गये; मसल गये दिनों को
थामता, सँभालता, सहलाता कौन, जब बिके हुए
निर्व्याज अपने हाथ अपने तक नही रहे।

नियतं कुरु कर्म त्वम्—कंधों पर लदे हुए पंथों ने
कानों में कहा और चेतना बना ही दी स्थितिप्रज्ञ;
संतजन हमारी दस गौओं का दूध-घी पीते रहे
पेलते रहे दण्ड सारे राजदण्ड हमारी ही छाती पर,
छेदकर अन्तस्तल राजध्वज फहराये, लहराये।
सारे राजमार्ग रेशम की पट्टियों से बँधे रहे
आँखों पर, मन की पाँखों पर, लाखों लाखों पर।

होने का दायित्व और न होने का स्वत्व
प्रेत बने घूमते हैं उन पंथों पर, जिन पर
हम कभी नहीं चले; उन संगमरमरी भवनों में
घूमते है बावले जिनमें हम रहे नहीं कभी, और
साँस लेते है उन इतिहास के झरोखों को खोलकर
जो अपना इतिहास नहीं।

साँसों का तार नहीं टूटा,
क्योंकि इन तारों से चलते है ये हाथ-पांव
जिनकी दरकार थी उनको, जिनके लिए जीना भर
हमारा कर्तव्य था, जिनके लिए ढोते रहे हम राहें
अपने कंधों पर, झुकाये हुए कमरें, हलों और हथौड़ों पर।

२

आज हमने फेंक दी हैं राहें कंधों से उतार कर।

हमारी हड्डियों और लहू से बनी ये डायनें,
साँपों की तरह फुंकार, हमें डसने को दौड़ती है,
विषधर दाँत कई महला इमारतों से उघरे हुए
आतंकित करने का प्रयास किया करते हैं,
विषबुझी आँखें घुमाती हैं काले काले पुतलीघर,

मायाविनी मोहिनी से सोने की चमक-दमक फैलाकर,
अदृश्य नागपाश में बँधे है हम।

हम सर्वथा स्वतंत्र हैं
किसी राह चलने को, जिनके हर छोर पर
टँगे हुए हैं 'नो वेकेन्सी' के साइनबोर्ड;
साइनबोर्ड, न्योनलाइट, शापिंग विण्डो की
झलमलाती हुई चकाचौंध बुलाती है इशारों से
आँखों में झाँक कर हँस देती है अँगूठा दिखाकर,
रात होते ही द्वार बंद हो जाते है घर-घर के
सितारों के द्वार खुल जाते हैं हमारे फुटपाथों पर।
हम सर्वथा स्वतंत्र है, कहीं जायें या ना जाये।

क्या सोचते हो, कौन सा महाकाव्य, कौन सा दर्शन,
—हर सुबह "वान्टेड" के कालम जगाते है, पूछते हैं।
कहाँ है तुम्हारा घर, कहाँ दीन-दुनिया, पूछ लेता है
चढ़ता हुआ सूरज, राहों के किनारे पर खड़ी हुई
मुरझाई हुई दूब से। जेब में कुछ है तो आओ,
चाँदनी पूछती है खड़ी हुई मुंडेरों पर, और फिर
खिड़कियाँ बन्द कर लेती है, राहों के ऊपर।
गुलाबों के सौरभ के सपने कॉफी हाउस से
निकलती हुई गंध में डूबते हैं, डूब जाते हैं।

एक बैंक की इमारत-सा भव्य प्यार
राह पर खड़ा है, भुन-भुनाकर पूछता है।
क्या है भुनाने को। काव्यशास्त्र, दर्शनशास्त्र, विज्ञान,
नहीं, नहीं, छोटी-सी पास-बुक चाहिए, यहाँ पर
आदमी को उसकी शक्ल-सूरत और सीरत से कभी नहीं
पासबुक और हस्ताक्षर से पहचानते है, जानते है।

हर राह जन-पथ है, मगर वह जनता हम नही हैं,
जिसके नाम मात्र पर चलते है राजकाज विमान पर सवार;
जिसके नाम पर बहसें होती है संसद में, हम वह नहीं,
वह जनता है कही पर तिजोरियों में बन्द, जिसे
हम सिर्फ जनते है—जनते है कौओं के कोटरों में ।

हम सबने उतार कर फेंक दी है ये राहें कंधों से,
राहों के किनारे खड़े हुए हम सब अब 'मैं' हैं ।
'मैं' और 'मैं' के बीच दौड़ है, और इस होड़ में
हम नही जीतते हैं, जीतते हैं वे जो सिक्का लगाते है
दाँव पर, उनका बस सिक्का है, हमारी है, जिंदगी ।.

हम सिर्फ़ हारते है, थकते हैं, टूट कर गिरते है,
राहें रेसकोर्स की रेस नहीं करती, केवल हम दौड़ते हैं,
विजेता पीठ थप-थपाकर 'मैं' और 'मैं' का
भेद बढ़ा जाते है—'मैं' हिनहिनाते है सगर्व,
मेरी राह, मेरी राह—हम सभी चीखते है ।
और विजेता मोटर पर सवार चले जाते हैं ।

राहें चलती है । हम सब किनारों पर खड़े हुए
होने का बोध लिए, भीड़ में अकेले हैं, 'मैं' है ।
और हर राह छूट जाती है हाथ से । बस राहें चलती हैं ।

३

नाना पन्थः, नाना पन्थः···आँखों पर पट्टियाँ···
अदृश्य नागपाश···आओ, हम एक नयी राह और बनाएँ
जिस पर हमारे पदचिह्न मोटरें न मिटाएँगी,
धकेल न दिए जाएँगे हम फुटपाथों पर घुटने सहलाते हुए ।

आओ, अपनी राह वहीं है जहाँ कोई राह नहीं,
वर्जना की पुलिस जहाँ जाने से टोकती है, रोकते हैं
'खतरा' के साइनबोर्ड, बड़े अखबारों की दीवारें खड़ी है
बड़ी साफ-सुथरी, अत्यन्त निखरी हुई राहों पर बुलाते हैं
बड़े-बड़े पुरस्कार, बड़े कलावतार, बड़े धर्मावतार !

आओ मैं आँखें दूँ, तुम अपनी आँखें दो,
हम सब अपनी आँखें दें, श्याम-श्वेत-रतनार संगमरमर से
बना देंगे नया पथ, चल पड़ेंगे जिन पर हमारे शब्द,
और शब्द खोल देगा वह द्वार, जिसके अन्दर
गुलाबों के फूल टाँगें पसारे हुए हमारी प्रतीक्षा में
पलकें बन्द किए सपनों से घनिष्ठतम बातें कर रहे हैं ।

राहें नहीं चलेंगी । हम सब चलेंगे और हम जहाँ भी
चल देंगे, पदचिह्न गढ़ देंगे नयी राह, इतिहास,
अगाध पिपासा, अनन्त आकांक्षा का दिगन्त पंथ अनवरत ।
राहें हमारे लिए होंगी—हम राहों के लिए नहीं ।

(१९६१)

मुक्ति गीत

आज सभी मार्ग उसी ओर बढ़े जाते हैं,
मैं हूँ कि इसीलिए आज भी
आलिंगन आतुर बाहें फैलाए हुए
बावले वैशाख-समीरण-सा घूम रहा ।

मुक्ति-गीत

ओ मुक्ति !
मैं हूँ कि आलिंगन-आतुर बांहें फैलाये हुए,
तेरे ही पीछे बावले वैशाख-समीरण-सा
घूम रहा हूँ जाने किस पल से
समय की सीमा कुछ याद नही ।

मेरा एक डग आह सदियां कहा जाता है,
मेरा हर अगला क़दम—नये युग का प्रवेश है;
मेरी पेशानी की पसीने की बूंदों में कितने चाँद और सूरज
खण्ड-खण्ड होकर घुल मिल गये रज-कण मे,

हाँ, मेरी भौहो के ऊपर काली घटाएँ भी छायी,
जिनकी गूंज आज इतिहास कहलाती है,
हाँ, मेरी साँसों में उलझ कभी गीतों की कड़ियां झनझना उठीं—
और हृदय का राग गल महाकाव्यों में ढल गया,
गुफ़ाओं से निकल मैंने ही गगनचुम्बी इमारतें उठायी हैं,
देखो ना, मंजिल के हर एक मील पर, ये सारे चरण-चिह्न
मेरी ही यात्रा की गाथा आज गा रहे।

ओ मुक्ति ।
हर एक पग पर एक कड़ी टूटी है

पर अगले ही चरण नये वन्धन ने पंथ रोक डाला है,
अनवरत संघर्ष जीवन की गति मेरी ।

२

हाँ, एक दिन वह भी था
द्विपद जन्तु के रूप में 'मैं' ने जब जन्म लिया ।

मैं था उन्मुक्त, किन्तु,
यह भोला-सा आसमान ऊपर गिरा पड़ता था,
यह सुकुमारि धरती, मुँह बाये, निगलने को खड़ी थी,
पानी की नादान लहरों में दिल डूबा-सा जाता था,
पेड़ों के मासूम पत्तों में जाने किसकी भूखी निगाहें छिपी थीं,—
फूलों की लहकती महक साँसों में सपोलों सी सरकती थीं,
चारों ओर ये सरल प्रकृति महाकाल-सी खड़ी थी ।

तभी मैंने सामाजिक कवच अंगीकार किया,
और प्रकृति-भय से विमुक्त हुआ ।

मेरी सामाजिकता एक वन्धन है,
मुक्ति भी ।

३

प्रकृति के विरुद्ध युद्ध करने के हेतु
मैंने सामाजिक वन्धन का अस्त्र लिया,
पर, संगठित मनुष्यता की शक्ति है इतनी कि
कुछ लोग प्रकृति से रक्षा का भार [illegible] य
स्वार्थ जाल में फँसाने लगे [illegible]

मैं हूँ कि आँखों के सामने देखा है—
सरे-बाजार आदमी आदमी को बेचता था,
बैलों की जगह खेतों पर इन्सान जोता जाता था,
और उधर,
क़बीलों के सरदार मूँछों पर ताव दिया करते थे।

हाँ, मुझसे पूछो कि किस तरह,
आधे ग़ुलाम कृश कृषकों के सीनों पर,
हीरों के भारी सिंहासन चमचमाते थे,
और जहाँ ऐंठे हुए बैठे सामन्त और सम्राट
नंगी तलवारों के साये में,
आध्यात्मिक शान्ति का उपदेश दिया करते थे,
उनकी जिह्वा पर ईश्वर के वचन थे।

आओ, मैं बतलाऊँगा कि किस तरह
गोरे पूँजीपति दुनिया को मण्डी समझते थे,
और हर चीज भाव-ताव से चलाते थे,
काली जातियों को 'सभ्य' करने के लिए,
वे काले साम्राज्यों का बोझा सँभाले थे,
दुनिया में शान्ति की स्थापना का लक्ष्य ले,
वे दोनों पक्षों को युद्ध के अस्त्र बेचा करते थे।
जनता के खून-खराबे से वे निर्लिप्त थे।

ओ मेरी मुक्ति।
आ देख, मेरे सीने पर कितने ही घाव है,—
यहाँ क़बीलों के तीर दर्द बनकर समा गये,
यहाँ अंग्रेज़ों औ' तैमूरों के तेग़ों की धार कुन्द हुई,
यहाँ चक्रवर्तियों के घोड़े, मनुष्यता को रौंदते चले गये,
यहाँ डायरों की गोलियों में कलियाँ भी भुन गयीं,
यहाँ अमलनेरों में मनुष्य के खून से होलियाँ खेली गयीं।

मेरे सीने से खून की बूंदें भी बहुत गिरीं, और सभी जगह
अमर शहादत के स्मारक उठ खड़े हुए,
मगर मैं आगे बढ़ता ही गया, रुका नहीं,
ज़ुल्मों के दुर्ग बालू के ढेरों-से ढह गये ।

४

ओ मेरी मुक्ति ।
आज तो और भी महान् विश्वास के पंख लगा
मेरे पैर उठते है—बढ़ते हैं,
इतिहास के अनुभव से गुज़र कर मैंने देख लिया,
आगे समता के उपवन हैं,
हवा के झोंके आज उधर से सुगन्ध के सन्देशे लिये आ रहे,
आज सभी मार्ग उसी ओर बढ़े आते है,
मैं हूँ कि इसलिए आज भी आलिंगन-आतुर बाँहें फैलाए हुए,
तेरे ही पीछे बावले वैशाख-समीरण-सा घूम रहा ।

(१९४७)

परिशिष्ट : दो टिप्पणियाँ

१. वक्तव्य : एण्टीगील, एक सम्भावना

मंच पर दृश्य परिवर्तन के बीच कहीं
जो अंधकार आता है
जिसका कोई दर्शक नहीं, कोई श्रोता नहीं
उसका अनजाना अनदेखा अस्तित्व···

क्षण और क्षण के बीच ठहरा हुआ समय
जिसे कोई नहीं भोगता
किस वेदना में जीता है, क्या प्रतीक्षाएँ
करता है···

हम अपने को महामानव मानें या लघुमानव, आत्म स्वीकृति ऐतिहासिक स्वीकृति के बिना निरर्थक है। वास्तव में हम एक ऐसी पीढ़ी हैं जो या तो अतीत में जीती है या भविष्य में—जिसका वर्तमान कुछ नहीं। हमारे पीछे वह गौरवशाली युग था जिसके प्रतीक रूप में रवीन्द्रनाथ, गांधी और नेहरू अब इतिहास बन चुके हैं। अब हम एक ठहरा हुआ समय है, जिसके आगे सम्भावना होगी···कैसी होगी, इसके लिए हम टटोल रहे है। पिछले युग का महामानव नेहरू इस खोज मे हमारा साथ देते-देते खो गया है और क्या जाने, हमारी पीढ़ी भी शायद यूँ ही विलुप्त हो जायगी।

यह अहसास मुझे कुण्ठित, व्यक्तित्वशून्य और निरीह क्यों नही बनाता, जैसा कि मेरी पीढ़ी के अनेक नयी कवितावादी हैं ? कारण शायद यही है कि मैं क्षण नहीं जीता, इतिहास जीता हूँ। वर्तमान की सतही (जिसे अंग्रेजी में 'नेव' कहते हैं) समझ प्राप्त करने के लिए कोई अधिक चेतना की आवश्यकता नही होती। कुछ ऐसी शक्तियाँ भी हैं जिनको यथा-स्थिति (स्टेटस-को) बनाये रखने में स्वार्थपूर्ण दिलचस्पी है। वे हमे आगे नही देखने देना चाहती और

हमारी चेतना को कुण्ठित बनाये रखना चाहती हैं। किन्तु मनुष्य पशु नहीं जो प्रस्तुत परिवेश के प्रति आत्म-समर्पण कर जी ले। मनुष्य परिवेश जीता है और साथ ही उसका निर्माण करता है। वे शक्तियाँ जो हमे जिन्स से अधिक कुछ नही समझती, जो हमारा मूल्य सिर्फ अपने मुनाफे से आँकती है, हमें आत्म-समर्पण के लिए विवश नही बनाए रख सकती। परिवेश के प्रति निष्क्रियता हमारा धर्म नहीं, सक्रियता हमारा सहज स्वभाव है :

टन-टन-टन-टन-टन-टन घड़ियाँ
और कलेण्डर के पृष्ठ वर्तमान को
बाँधेंगे कहाँ, वह आने से पहले ही
अतीत बन जाता है, अविश्वासी
प्रेमी-सा आड़ में खड़ा हो जाता है
भविष्य ड्राइंग रूम में
सुनता है हमारा वार्तालाप अन्य क्षण से
क्या जाने उसे अहसास है
उसके उपस्थित स्पर्श और सुगन्ध
हमें अजाने हा सचेत कर देते हैं।
अविश्वासी खा जाता है धोखा तो
इसलिए कि वह भी है महत्वपूर्ण
हमने जो कहा नहीं, हमने जो किया नहीं
कहने और करने के बीच में।

परिवेश के प्रति सक्रियता की चेतना हाल के वर्षो मे व्यापक हुई है। मैंने 'रचनाएं-१' की भूमिका में लिखा था कि पिछले दशक और इस नये दशक के रचनाकारों मे मुख्य भेद यही है कि पिछले दशक में निष्क्रियता की भावना प्रबल थी और अब उसके रोमांटिक मोह को त्यागकर साहित्यकार सक्रिय दृष्टिकोण अपना रहे हैं।

सक्रियता, असन्तोष और विद्रोह, एक बेचैनी, एक प्रतीक्षातुरता··· यह मेरी रचना का प्रमुख स्वर है। उसको उस कसौटी से नहीं आँका जा सकता जिस पर तथाकथित 'नयी कविता' को आँका जाता था। 'संवेदना' या 'अनुभूतियो की प्रामाणिकता', 'ईमानदारी', 'तटस्थता', 'असंपृक्तता' जैसे शब्द मेरे लिए निष्क्रिय भावबोध, परिवेश के प्रति पुरुषहीन समर्पण, युग-चेतना की सतही और समझ और छिछली रोमांटिकता के पर्याय हैं। युग-चेतना की सतह समझ वालों के लिए ही शायद मुझसे समय ने ये पंक्तियाँ लिखवा ली हैं :

गतिरोध की चट्टान पर पछाड़ खाती हुई,
टूटती हुई लहरें कितनी बेबस,
कितनी असहाय मालूम होती हैं लेकिन
पूछो क्षण-क्षण टूटते हुए कण से
जिन्हें लहरें ले जाती हैं साथ में
अपनी राह जाते जल-यानों को
ये चट्टानें बन जाती हैं दिशा-बोध
जब और कोई चिन्ह नहीं होता,
चट्टान लहरा हुआ सागर
और जलयान हमारे ही अन्दर है।

स्पष्ट ही, मैं तथाकथित 'नयी कविता' के दायरे मे नही आता। मैं नगर-बोध का कवि हूँ, यह सच है। यह कहते हुए मैं डर रहा हूँ, क्योंकि मात्र नगर-बोध को, और उसमें भी प्रमुखतया आधुनिक रेस्तोरा जीवन को, आज आधुनिकता का चिह्न मान लिया गया है। विडम्बना यह है कि अधिकांश हिन्दी कवि गाँव या छोटे कस्बे के वासी की दृष्टि से ही शहर को देख पाते है। उनके कथन की शब्दावली 'अजनबीपन', 'अकेलेपन', 'अलगाव' आदि के सूट पहनकर सामने आती अवश्य है लेकिन उनका भदेसपन छिप नही पाता। उनके भावबोध को मैं 'अहा ग्राम्य जीवन भी क्या है' कहने वाले पुराने कवियों से भिन्न नही मान पाता; ट्रेजेडी यह है कि आज का कवि गाँव से भी इतना कट गया है कि उसमें 'अहा ग्राम्य जीवन भी क्या है' कहने का भी साहस नही है। मेरे लिए नगर चेतना समस्त अन्तर्विरोधों के साथ···भीड़ और अकेलेपन, के साथ···सहज जीवन-स्थिति है :

अपने से बातचीत बन गयी
लोगों से बात, और लोगों में भाषण
बना अपने से सम्भाषण,
भीड़ में अकेलापन, अकेले में अन्दर असंख्य चेहरों
की भीड़,
एक नीड़-सा मिला किसी स्वर की झकझोरती
मीड़ में
और मौन लगता है प्राणान्तक···

'पेट्रोल मिश्रित फूलों की सुगंध' मेरे लिए इस जीवन का परम प्रिय प्रतीक है। नगर-अनुभूति मेरा अपना माध्यम है जिसके द्वारा मैं आधुनिक सवेदना

व्यक्त करता हूँ। अन्य माध्यम भी हो सकते हैं। आधुनिकता तो एक विशिष्ट बोध है जो समसामयिक मानव-जीवन की सार्वभौमिक चेतना के साथ भविष्य मे चरण रखे खड़ा है। मैं समझता हूँ उसके एक खण्ड रूप मे ग्राम-जीवन का चित्रण भी इस बोध से मण्डित हो सकता है।

एक अंग्रेजी साप्ताहिक ने मुझे 'नियो फ्यूचरिस्ट' (नव भविष्यवादी) कहा है। कुछ हद तक मुझे यह कहलाना पसन्द है। कुछ हद तक इसलिए कि एक समय यूरोप में 'फ्यूचरिज्म' का आन्दोलन चल चुका है, जिससे मेरे लेखन में शायद ही कोई साम्य है। उस समय से परिस्थितियाँ इतनी बदल गई है कि मैं वही नही हो सकता।

दुर्भाग्य है कि मैं लिख रहा हूँ एक ऐसे युग में जब कविता की परम्परागत सामाजिक भूमिका (अंग्रेजी में जिसे 'सोशल फंक्शन' कहते हैं) समाप्त हो गई है। कविता का जन्म आदिम समाज में जादुई क्रिया के रूप में हुआ था। वह दैवी शक्तियों के आवाहन और सामाजिक तादात्म्य का साधन थी। मध्य-युग में वह धार्मिक वृत्तियों की वाहिका या सामन्तों को देवता-तुल्य स्थिति में पहुँचाने का अस्त्र थी। सगीत से सयुक्त होकर कविता मौखिक रूप से रसोद्दीपन का कार्य करती रही। आज जब सभी जादू टूट गये हैं तो कविता का जादुई प्रभाव भी समाप्त हो गया है। आज कविता अंधकार मे जूझते हुए मनुष्य का एकालाप मात्र रह गई है। छपी हुई कविता संगीत से दूर हो गई। कविता व्यक्ति-केन्द्रित हो गई और व्यक्ति-व्यक्ति के बीच अनेक व्यवधान खड़े हो गए हैं। ऐसी स्थिति में, मैं जो प्रयत्न कर रहा हूँ कि मेरी अपने से बातचीत दूसरों से बातचीत बन जाय, वह पता नही किस हद तक सफल होगा। मैं अक्सर अपनी कविताओं को 'गीत' कहता हूँ, तो इसलिए कि मैं उनमे वह जादुई तत्व पैदा करना चाहता हूँ जो आदिम कविता में था या जिसे हम बाइबिल के अंग्रेजी अनुवाद में देख सकते हैं। किन्तु वे संगीत से शून्य और छपे हुए रूप में पढ़ने के लिए लिखी गई हैं, इसलिए उन्हे 'एण्टीगीत' कहना शायद अधिक सही होगा।

कविवर शमशेर कहा करते हैं कि मैं हर प्रकार के शिल्प को निभा लेता हूँ (यह बात शायद स्वयं उनके लिए ही सही है⋯मुक्तछंद, गीत, गजल, उन्होने क्या नही लिखा है)। यह शायद मेरे प्रति उनके प्रेमभाव की गूँज है। किन्तु, इसमे इतना सच अवश्य है कि मैं किसी भी शैली या शिल्प को उपेक्षणीय नही मानता। उदाहरण के लिए, गेय कविता को जिसे 'गीत' कहा जाता है, साहित्य से बहिष्कृत करने का जो प्रयास किया जा रहा है, मैं उसे निन्दनीय

मानता हूँ। मेरा आग्रह केवल इतना रहा है कि 'गीत' नामक विधा को आधुनिक संवेदनशीलता से सम्पृक्त किया जाना चाहिए।

लघु कविताओं का प्रश्न आता है तो हमारे साथी कवि 'हाइकू' के अनुकरण से आगे नही बढ़ पाते। क्या कारण है कि हमने स्वयं अपनी परम्परा की मुकरी, पहेलियों और दोहों जैसे लघु-काव्य-रूपों का संस्कार नही किया।

मैं युग-बोध के प्रश्न पर जितना मधु संचयी और समाजोन्मुखी हूँ, शिल्प के प्रश्न पर उतना ही अधिक व्यक्तिवादी हूँ। मेरा शिल्प, कथ्य पद्धति और अभिव्यक्ति मेरा अपना वैशिष्ट्य हो, इस अहं के साथ मैं लिख रहा हूँ। हर नये लेखक को भी मैं यही सलाह देता हूँ कि अपनी रचना का विशिष्ट व्यक्तित्व बनाओ, वरना अगर दूसरों जैसा लिखने से अधिक क्षमता नहीं तो लिखना छोड़ दो। मैं अपने पूर्ववर्ती सभी कलाकारों का ऋणी हूँ, जिनसे मैंने बहुत कुछ सीखा है, लेकिन जो कुछ दे रहा हूँ, वह मेरे अपने व्यक्तित्व जैसा भिन्न है।

(जून १९६४)

२. आधुनिकता : जन्म की प्रतीक्षा

कोई दो वर्ष पहले जब मैंने कही कहा था कि वास्तविक आधुनिकता का अभी जन्म नही हुआ है तो एक कवि मित्र ने मुझ पर आरोप लगाया था कि मैं चौंकाने वाली बात कहकर शायद अपनी ओर "ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न" कर रहा हूँ। चौंकाने वाली बात अवश्य थी, लेकिन इस प्रकार "ध्यान आकर्षित" करने की मेरी आदत नही है। यह काम बहुत लोग कर चुके हैं और मैं उनकी भीड़ मे अपने को शामिल करने के प्रस्ताव तक से नफरत करता हूँ। मैंने जो कुछ कहा था, अपने थोड़े से अध्ययन और विश्लेषण के बल पर और आज भी मैं उस राय को बदलने का कारण नही देखता। उलटे, इस बीच "आधुनिकता" के मसीहा श्री स्टीफेन स्पेंडर के कुछ कथनों से मेरे मत की पुष्टि ही हुई है। मैं साहित्यिक साथियो का ध्यान बुडापेस्ट में लेखकों के बीच दिये गये श्री स्पेंडर के एक भाषण की ओर आकर्षित करना चाहूँगा जो "न्यू हंगेरियन क्वार्टरली," सख्या १६ मे अविकल प्रकाशित हुआ है। इस भाषण में एक स्थान पर कहा गया है।

"आई० ए० रिचर्ड्स, एफ० आर० लीविस और अमेरिका के नये आलोचकों के पाठक यह मानेंगे कि एकात्म समाज का टूटना, मूल्यों का ढह जाना, विघटन आदि जैसे वाक्य-खण्ड आधुनिक आलोचना के मतवाद को अभिव्यक्त करते है। और सार्वभौमिक तथ्य की तरह यह कहा जा सकता है कि कुछ अपवादों को छोड़कर आधुनिक कला आधुनिक जीवन से घृणा करती है।" (जोर मेरा)

दूसरे शब्दों मे, पश्चिम मे आधुनिकता के नाम पर जो मान्यताएँ स्थापित की जा रहीं थी, वे आधुनिकता विरोधी थी और हैं। श्री स्पेंडर भी, चूँकि इसी को आधुनिकता मानते हैं, इसलिए न तो वे इसके मूल कारणो को सही ढंग से स्पष्ट कर पाते हैं और न सही आधुनिकता की व्याख्या कर पाते हैं।

इस विडम्बना को समझने के लिए यह देखना आवश्यक है कि औद्योगिक समाज (पूँजीवादी व्यवस्था) के जन्म के बाद से विज्ञान और टेक्नालोजी के तीव्र विकास के कारण सामाजिक सम्बन्धों में जो द्रुतगामी परिवर्तन होते रहे हैं और हो रहे हैं, उनसे सापेक्षतया मनुष्य की सामाजिक चेतना पीछे रही है। सामन्ती समाज में मानव सम्बन्ध बिलकुल प्रत्यक्ष थे, किन्तु पूँजीवादी समाज में ये सम्बन्ध अप्रत्यक्ष हो उठे; केवल वेतन, जिन्सों के मूल्य और आर्थिक स्थिति के माध्यम से मानव-सम्बन्ध टिके रह गये। समाज से व्यक्ति का *अलगाव जितना अब पैदा हो गया, उतना मानव-इतिहास में* पहले कभी नहीं था। इस स्थिति में, सदियों से पोषित जीवन-मूल्यों से ढहते देखकर एक विरोध पैदा हुआ जिसके मूल में इस नये परिवेश के प्रति एक घृणा का भाव था। कथित "आधुनिकता" के प्रवर्तक आगे न बढ़ सके, वे पीछे लौटकर कैथोलिक धर्म या अन्य मध्ययुगीन धार्मिक विचारों मे शरण लेने लगे (ईलियट, आडेन, ईशरवुड आदि इसके उदाहरण है)। पुरानी दृष्टि से नयी वास्तविकता को देखने का यह अनिवार्य परिणाम था।

औद्योगिक सभ्यता ने किन्ही नयी सम्भावनाओं का द्वार खोला है, इस ओर पश्चिम के लेखक ध्यान नहीं दे सके। सन् '३० और '४० के बीच किन्ही लेखकों ने इस दिशा मे कदम बढाया भी था, लेकिन शीत युद्ध और समाजवाद-विरोध की अनिवार्यताओं ने उन्हे मुँह मोड़ने के लिए विवश कर दिया! आज की सम्भावनाओं और नये जीवन मूल्यों की खोज का काम अभी शेष है और इस कार्य को जितना जल्दी सम्पन्न किया जा सकेगा, उस हद तक हम सच्ची आधुनिकता के निकट पहुँचेंगे। मैं समझता हूँ, आज का साहित्यकार, समाज के अत्यन्त सचेत और जागरूक व्यक्ति होने के कारण, इसका द्वार खोल सकता है।

आज इसके लिए वस्तुगत परिस्थितियाँ भी हैं। कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि व्यापक शिक्षा, कला-सामग्री को सबके लिए सुलभ करने की अभूतपूर्व क्षमता और सास्कृतिक सम्पन्नता के लिए सर्वतोमुखी भौतिक साधनो की उपलब्धि के कारण भौतिकेतर समृद्धि की अपार सम्भावनाएँ हैं। इसके आधार *पर मानव-मानव के बीच नये, तनाव-शून्य सम्बन्ध स्थापित किये जा सकते हैं,* जिसे हम समाजवाद कहे या और कुछ। स्वय पारमाणविक विनाश के खतरे ने एक ऐसी स्थिति पैदा कर दी है कि युद्ध-रहित समाज की स्थापना के लिए कदम आगे बढाये जा सकते हैं। पीछे लौटना असम्भव है और आगे बढ़ना अनिवार्य है। अगले दस वर्ष सचमुच निर्णयकारी हैं, मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं।

(अक्तूबर १९६५)